International Conference on Social Science & Humanities Trends
International Journal for Research Trends in Social Science & Humanities
April 2025
ISSN: 2584-2455

स्त्री-विमर्श: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और समकालीन सन्दर्भ

डॉ. दिनेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर- हिन्दी

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जलेसर, एटा।

स्त्री विमर्श को जानने से पहले 'विमर्श' शब्द को जानना बहुत आवश्यक है। विमर्श का अर्थ है जीवन्त बहस। हिन्दी में विमर्श शब्द अंग्रेजी के **Discourse** शब्द से आया है, जिसका अर्थ है वर्ण्य विषय पर सुदीर्घ एवं गम्भीर चिन्तन। किसी भी समस्या या स्थिति को एक कोण से न देखकर भिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों तथा वैचारिक प्रतिबद्धताओं का समाहार करते हुए उलट-पलट कर देखना विमर्श कहलाता है। उन्हें समग्रता में समझने की कोशिश करते हुए मानवीय सन्दर्भों में निष्कर्ष प्राप्ति की चेष्टा की जाती है। इस प्रक्रिया में निष्कर्ष अन्तिम नहीं माने जाते वरन उन्हें समय के साथ नया स्वरूप ग्रहण करने की स्वतन्त्रता होती है। इस प्रकार स्त्री-विमर्श का अर्थ है स्त्री को केन्द्र में रखकर समाज, संस्कृति, परम्परा एवं इतिहास का पुनः निरीक्षण करते हुए स्त्री की स्थिति पर मानवीय दृष्टि से विचार करने की प्रक्रिया। स्त्री-विमर्श, स्त्री-चेतना पर आधारित आख्यान है।

आदिकाल के हिन्दी साहित्य में अनेक प्रकार के साहित्य की रचना हुई जैसे सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, रासो साहित्य और लौकिक साहित्य आदि। इस साहित्य में स्त्री का स्वरूप निम्न कोटि का रहा है। सिद्ध, जैन और नाथ साहित्य में स्त्री को पुरुष की उन्नति का सबसे बड़ा रोधक माना गया है। ये साहित्य आत्मसंयम, हठयोग और मन को साधने की बात करते हैं। वहीं स्त्री को पाप का रास्ता बताते हैं तथा उसके साहचर्य से दूर रहने की बात करते हैं। इसका उदाहरण गोरखनाथ जी हैं जिन्होंने नाथ साहित्य की स्थापना की तथा अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया जो एक स्त्री के साहचर्य में फँसकर लोकहित को भूल गए थे।

वहीं आदिकाल के रासो साहित्य में स्त्री का दूसरा रूप ही उभरकर सामने आता है। चाहे फिर वह आध्यात्मिक ही क्यों न हो। हिन्दी के प्रथम महाकवि चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज रासो की रचना की जिसमें उन्होंने नायक को नायिका को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करता दिखाया है। क्योंकि वह नायिका रूप सौन्दर्य एवं प्रेम की साक्षात् देवी है। यहाँ नारी दोनों रसों के केन्द्र में है। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में पुरुषों द्वारा रचित साहित्य में स्त्री के विभिन्न रूप हमें दिखाई देते हैं जैसे कोई उसे पाप की गठरी मानता है तो कोई उसे ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता। वहीं लौकिक साहित्य में आम स्त्री के जीवन चरित को दर्शाया गया है। अब्दुल रहमान का 'सन्देश रासक' ऐसा काव्य है जो एक स्त्री की व्यथा, उसकी संवेदना, मार्मिकता, उसके धैर्य, प्रेम के अथाह सागर रूपी व्यक्तित्व को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का आदिकाल अपने पूर्वानुभवों से कहीं न कहीं प्रभावित है। जिसमें कहीं मनु के विचार परिलक्षित होने लगते हैं तो कहीं साधारण आम व्यक्ति के विचार। लेकिन स्त्री के बारे में ये सब विचार सिर्फ पुरुषों द्वारा ही दिए गए हैं।

पूर्वमध्य काल यानी भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य में स्वर्णकाल के रूप में जाना जाता है। इस काल के चार महास्तम्भ कबीर, जायसी, तुलसी और सूर नारी के सन्दर्भ में अपने-अपने विचार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हैं। मध्यकाल तक आते-आते नारी जीवन अनेक विसंगतियों से भर गया, यही कारण है कि हिन्दी भक्ति काव्य में स्त्री-विमर्श सशक्त होकर रचनाओं के रचनातन्त्र और रचना रहस्य के रूप में आया। सन्त काव्य के प्रमुख कवि कबीर कहीं न कहीं नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित थे। इसलिए वे हमेशा स्त्रियों से दूर रहने की बात करते थे। वे स्त्री को 'महाठगिनी', 'पाप का द्वार' आदि मानते थे। सन्त काव्य को छोड़कर हिन्दी भक्ति काव्य की सम्पूर्ण काव्य चेतना सामाजिक सन्दर्भ में स्त्री-विमर्श को ही केन्द्र में रखकर अपने रचना तन्त्र का निर्माण करती है। स्त्री-जीवन की अस्मिता इस काव्यधारा के रचना रहस्य के रूप में अनुभव की जा सकती है।

मध्यकाल तक स्त्री-जीवन सामान्यतः मानव समाज की आधारभूत संस्था 'परिवार' तक ही सीमित था। पारिवारिक संरचना को सुदृढ़ करने के लिए स्त्री-विमर्श को एक ऐसा मोड़ दे दिया गया जिसमें स्त्री व्यक्तित्व के सहज विकास की पूर्णतः उपेक्षा थी। सूफी कवियों ने अपनी रचनाओं के रचनातन्त्र के कथासूत्रों के माध्यम से स्त्री-जीवन की पीड़ाओं को स्पष्ट रूप से उभारा और उसे आदिकालीन साहित्य में अभिव्यक्त स्त्री-विमर्श सम्बन्धी उस काव्य चेतना से जोड़ा जो रासो काव्य में दबे स्वर में दिखाई दे रही थी। सूफी काव्य धारा के अमर कवि जायसी अपनी रचना 'पद्मावत' में कथासूत्रों से जिस रचनातन्त्र की रचना करते हैं वह आदि से अन्त तक स्त्री-विमर्श के चारों ओर घूमता है। जहाँ पृथ्वीराज रासो में पद्मावती पुरुष प्रधान समाज के निरंकुश तन्त्र को चुनौती देती हुई, अपने अस्तित्व को प्रतिष्ठित करती हुई स्त्री की वैयक्तिक पहचान और स्त्री-मुक्ति आन्दोलन की प्रेरणा सी दिखाई देती है, वहीं पद्मावत में पद्मावती के रूप में जायसी स्त्री अस्मिता को केन्द्र में रखकर स्त्री-विमर्श को सही दिशा दिखा पाने के लिए सशक्त आधार तैयार करते हैं। यह कथा पुरुष प्रधान समाज में स्त्री अस्मिता के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न खड़े करके स्त्री-विमर्श को गति प्रदान करती है। जिसकी गूँज हमें आधुनिक काल की छायावादी कृति 'कामायनी' तक में दिखाई देती है।

हिन्दी रामभक्ति काव्य धारा के पुरोधा तुलसीदास स्त्री-विमर्श के अनेक आयामों को लेकर अपनी रामकथा का ताना-बाना बुनते हैं। वहाँ कथा सूत्र तो परम्परा से गृहीत हैं लेकिन रचनातन्त्र और रचना रहस्य तुलसी का अपना है। कहीं तो वे नारी को पशु के समान मानते हैं: "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।" और कहीं वे नारी अस्मिता से जुड़े विविध प्रसंगों को उठाकर स्त्री-विमर्श की धारा को कई आयाम देते हैं। अपनी रचना 'रामचरितमानस' में सीता स्वयंवर, सीता का वनगमन, शूर्पणखा, सीता हरण प्रसंग, अहिल्या प्रसंग, तारा, मन्दोदरी आदि के प्रसंग स्त्री-विमर्श के विविध आयामों की बड़े सशक्त ढंग से व्यंजना करते हैं। तुलसी जानते हैं कि शील के नाम पर नारी की मानसिकता को किस प्रकार जकड़ दिया गया है कि उसके मन में लड़की होने का एहसास उसे हमेशा विवशता का बोध कराता है। तुलसी की रामचरितमानस की सीता, राम से विवाह करना चाहती है लेकिन पिता की असंगत हठ को लेकर शंकित मन में उठता उनका करुण क्रन्दन नारी जीवन की विवशता की कथा कह रहा है। सूरदास के साहित्य 'सूरसागर' में वर्णित 'भ्रमरगीत' प्रकरण नारी-विमर्श का एक सशक्त बिन्दु है। यदि इन प्रकरणों को देखा जाए तो आज भी ऐसे धूर्त पुरुष

मिलते हैं जो पढ़-लिख कर अच्छा पद प्राप्त करते ही अपनी अशिक्षित, ग्रामीण पूर्व परिणीता को धोखे में छोड़कर उसके विश्वास को तोड़ते हुए उसे उसकी नियति पर छोड़ देते हैं। उनके साथ समाज में ऐसी कुब्जाएँ भी हैं जो नारी के अधिकारों पर आघात करके ऐसे पुरुष को अपनी धूर्तता के जाल में फँसा लेती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पूर्वमध्यकालीन हिन्दी भक्ति काव्यधारा आध्यात्मिक चेतना पर आधारित कोरा भाव-विलास ही नहीं है, उसमें कहीं वाच्यार्थ में तो कहीं प्रतीकार्थ में सामाजिक चिन्ताओं का सन्निवेश है। इसमें भी विशेषकर नारी जीवन की विषमताओं का चित्रण मिलता है, जो नारी-विमर्श की धारा को युगानुरूप निरन्तर गति देता है। भक्तिकाल में स्त्री कवयित्रियों ने भी साहित्य की रचना की थी। भक्तिकाल में उमा, पार्वती, मुक्ताबाई, रत्नावली, दयाबाई, सहजोबाई आदि लेखिकाओं का नाम उल्लेखनीय है। मीरा से पूर्व सन्तमत से प्रभावित होकर सहजोबाई और दयाबाई ने अच्छे पद लिखे थे।

"अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चरणदास की शिष्या दयाबाई और सहजोबाई की निर्गुण भक्ति-भावना की रचनाओं को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ये दोनों चचेरी बहनें थीं। सहजोबाई दिल्ली के हरिप्रसाद वैश्य की पुत्री थीं। इनका जन्म **1743** ई. में हुआ था। इनकी रचनाएँ 'सहज प्रकाश' में संगृहीत हैं।"[1]

मध्यकालीन सन्तों ने जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत की सारी वर्गवादी व्यवस्था को भगवान के नाम पर ललकारा था– भगवान की निगाहों में कहीं कोई भेद नहीं है। भक्ति आन्दोलन वर्ण और वर्ग के शिकंजों से मुक्ति का पहला गम्भीर आन्दोलन है और यही विद्रोह मीरा का भी है। "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" जैसे स्वरों में भगवान को ही अपना वास्तविक प्रेमी और पति मानकर वह बाकी सारी सामाजिक मान्यताओं, पति-परिवार, शील-सतीत्व सभी को अस्वीकार करती हैं।

"मीराबाई ने भक्ति और माधुर्य तत्त्व के माध्यम से लिंगीय भेदभाव और सामाजिक वैषम्य दोनों को एक साथ चुनौती दी। स्त्री के सामाजिक अधिकारों, खासकर स्त्री के मन एवं तन पर स्त्री के स्वामित्व की वकालत करने वाली वह पहली भारतीय लेखिका हैं। स्त्री जो उचित समझे उसे वह करने का अधिकार है। इसके लिए उसे लोकनिन्दा या पारिवारिक कटुता या पुरुष वर्चस्व के दबावों के आगे समर्पण नहीं करना चाहिए।"[2]

मध्यकाल में अकेली एक मीरा थी जिसने इस शोषक व्यवस्था को आमूल रूप से बदलने का साहस किया था। मीरा ने राज-परिवार की झूठी शान, युवा विधवा की आजीवन बन्दिनी सी स्थिति और धर्म व भक्ति में पुरुष के एकाधिकार को तोड़ा था। मीरा तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुई क्योंकि वे स्वयं को अजर-अमर स्वामी की 'चिरसुहागिन' मानती थीं। मीराबाई की कविताएँ पहली बार परम्परागत धारणा पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं और स्त्री के व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। स्त्री की शक्ति, उसके प्यार की शक्ति, उसके दुःख और आनन्द का सामाजिक तौर पर पहली बार मीराबाई ने रूपायन किया।

मीरा का समूचा काव्य इसी आधार पर सामन्ती विचारधारा का विरोधी और स्त्रीवादी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं– *"मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यासजी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है।"*[4]

मीरा इसलिए विद्रोहिणी हैं कि उन्होंने ईश्वर और भक्ति के माध्यम से अपने को इन सम्बन्धों से मुक्त करने का प्रयास किया था। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के साथ किस तरह के जुल्म होते हैं और परिवारजनों का रवैया किस तरह अमानवीय होता है, उसे सामाजिक तौर पर अभिव्यक्त करने वाली मीरा पहली भारतीय लेखिका हैं। स्त्री का दुःख, उत्पीड़न एवं दमन हमेशा निजी रहा है। स्त्रियाँ इसे छिपाती रही हैं। मीरा ने कुछ भी न छिपाकर सबको उजागर कर दिया। मीराबाई के भक्ति-पदों की सर्वजनमनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के सन्तों, भक्तों, कवियों तथा रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है।

हिन्दी साहित्य में मीरा के पद निश्चित ही स्त्री-अस्तित्व की पहचान कराने में समर्थ मालूम पड़ते हैं। मीरा सबसे पहली ऐसी कवयित्री हैं जो समाज के बनाए हुए परम्परागत मूल्यों का निर्वाह नहीं करती हैं और सबसे संघर्ष कर अपनी कृष्ण भक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त कर अपने लक्ष्य को हासिल करती हैं। पुरुष प्रधान समाज में नारी की दुर्दशा के अनेक उदाहरण मध्यकाल में मिलते हैं। स्त्री को इस दुर्दशा से निकालकर समान स्थिति में लाने का काम भक्ति आन्दोलन ने किया। मध्यकाल में सन्त भक्तों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने भक्ति आन्दोलन में स्त्री-पुरुष की समानता को लेकर लिखा है–

"भक्ति आन्दोलन नारी को भी घर से उसी तरह बाहर आने का निमन्त्रण देता था जिस प्रकार पुरुष को। भक्ति की दृष्टि में नारी और पुरुष में अन्तर नहीं, दोनों अंशी के अंश हैं। लेकिन सामन्ती व्यवस्था नारी को–विशेषतः उच्च वर्ग की नारी को घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं दे सकती थी। मीरा के भक्त जीवन का यही मूल भौतिक संघर्ष था। वह यदि निम्न वर्ण में जन्मी होतीं तो उनके बाहर निकलने पर रूढ़िग्रस्त समाज इतना कुपित और क्षुब्ध न होता। वह आन्दोलन कैसा था, जो राणाकुल की स्त्री को बाहर निकालने की प्रेरणा देता था।"[6]

उत्तर मध्यकाल यानी रीतिकाल में हिन्दी साहित्य के केन्द्र में स्त्री रही है, लेकिन वहाँ इसका स्वरूप कुछ और ही था। रीतिकाल के कवियों ने नारी को सिर्फ विलास की ही वस्तु समझा था। उन्होंने उसकी भावनाओं और संवेदनाओं को नहीं बल्कि उसकी शारीरिक बनावट को केन्द्र में रखकर काव्य की रचना की। रीतिकाल में कवियों की नायिका 'राधा' जिसे प्रेम का दूसरा रूप ही समझा जाता है, उसके बहाने पूरे स्त्री शरीर की जैसे रचना की हो। प्रेम के बाह्य रूप को ही उन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया अर्थात् इन काव्य ग्रन्थों में सेक्सुअल प्लेजर (**Sexual pleasure**) की अधिक अपील की गई है। औरत के शारीरिक स्वरूप का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया गया है। नायिका भेद, उसके नख से शिख तक का वर्णन इस काल में किया गया है। बिहारी इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं जो 'गागर में सागर' भर देते हैं। उन्होंने भी नारी को शरीर के रूप में

ही देखा। वास्तव में नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामन्ती ही रही है। ये उसे पुरुष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांग न समझकर भोग्य सम्पत्ति के समान भोग का मात्र उपकरण समझते हैं।

रीतिकाल में स्त्री केवल भोग की वस्तु थी। वह न तो माँ थी, न बेटी थी, न बहू थी, न बहन थी। रीतिकाल में स्त्री को भोग की वस्तु के रूप में देखा गया। इसी भोगवादी दृष्टि का साहित्य में भी जयघोष हुआ। स्त्री की उन तमाम क्रियाओं को रूपायित किया गया जिनसे भोगवाद को बढ़ावा मिले। रीतिकाल में नख-शिख वर्णन पर ही पुरुष लेखकों ने सबसे ज्यादा रुचि दिखाई है। इन रचनाओं में नायक-नायिका भेद का रूपायन ज्यादा मिलता है। विलासिता की प्रधानता और सामन्ती प्रभाव के कारण ही इन लोगों की सौन्दर्य भावना भी विषयीगत न होकर विषयगत रही है–नारी के बाह्य रूप की परिचायक अंगों की बनावट में ही इनकी दृष्टि उलझी रही, उसके आन्तरिक गुणों तक नहीं पहुँच पायी।

रीतिकाल में शेख रंगरेज़िन भी अच्छी कविता करती थीं। कवि आलम के एक अधूरे दोहे को रंगरेज़िन ने पूरा किया था। आलम उनके काव्य कौशल से इतने प्रभावित हुए कि हिन्दू से मुसलमान बनकर उसी के हो गए। आलम ने एक बार उसे पगड़ी रंगने को दी जिसकी खूँट में भूल से कागज का एक चिट बँधा चला गया। उस चिट में दोहे की यह आधी पंक्ति लिखी थी: 'कनक छरी-सी कामिनी काहे को कटि छीन'। शेख ने इस तरह दोहा पूरा करके– 'कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन्ह' उस चिट को फिर ज्यों-की-त्यों पगड़ी की खूँट में बाँधकर लौटा दिया।

आधुनिक काल में आकर स्त्रियों को भी अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली, साथ ही पुरुष लेखक भी स्त्री-विमर्श को लेकर सतर्क हो गए। अब वे न केवल उनके प्रति सहानुभूति दिखाते हैं बल्कि स्त्री अधिकारों की समानता की बात करते हैं। आरम्भकालीन कथा साहित्य में बंगमहिला, उषा देवी मित्रा, कमला चौधरी, होमवती देवी, सत्यवती मलिक, शिवरानी देवी आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बंगमहिला के बारे में डॉ. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है– *"उन्होंने बहुत-सी कहानियों का बंगला से अनुवाद तो किया ही, हिन्दी में कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं जिनमें से एक थी 'दुलाईवाली' जो संवत **1964** की 'सरस्वती' **(**भाग **8,** संख्या **5)** में प्रकाशित हुई।" *[11]

स्त्रियों को शिक्षित करने के उद्देश्य से अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। संवत **1931** में भारतेन्दु जी ने स्त्री शिक्षा के लिए 'बालबोधिनी' निकाली थी। भारतेन्दु युग के लेखक प्रताप नारायण मिश्र भी स्त्रियों की सामाजिक दुर्दशा से दुखी थे। 'मन की लहर' में प्रतापनारायण की दृष्टि बाल-विधवाओं की करुण दशा की ओर गयी है– "कौन करेजो नहिं दहकत सुनि विपति बाल विधवन की" जैसी पंक्तियाँ लिखते हैं। भारतीय जनमानस की यह विशेषता रही है कि वह घर के बाहर स्त्री पर होने वाले जुल्मों की निन्दा करता है किन्तु स्वयं घर में स्त्री पर जुल्म करता है। घर के बाहर दिखाने के लिए स्त्री के प्रति अलग नजरिया और घर के अन्दर अलग नजरिया। ये दो मुखौटे वस्तुतः मध्यवर्ग की विशेषताएँ हैं।

"प्रत्येक भारतीय पुरुष चाहे वह कितना शिक्षित हो, अपने पुराने संस्कारों से इतना दूर नहीं हो सका है कि अपनी पत्नी को अपनी प्रदर्शनी न समझे। उसकी विद्या, उसकी

बुद्धि, उसका कला-कौशल और उसका सौन्दर्य सब उसकी आत्मश्लाघा के साधन मात्र हैं।"[13]

आश्चर्य की बात यह है कि भारतीय नारियों की राजनीति, समाज, धर्म, संगीत, नृत्य, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, प्रशासन आदि में लम्बी नाम श्रृंखला होने के बाद भी पुरुष भारतीय स्त्रियों को घर के अन्दर ही कैद रखना चाहते हैं। भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है। परम्परागत परिवार में आदर्श पत्नी वही है जो पुरुष के अत्याचार सहे, पति को परमेश्वर समझे। पति की हर आज्ञा का पालन करे। पुरुष स्त्री को बन्धनों में जकड़कर रखना चाहता है और स्वयं निर्बाध गति से इधर-उधर घूमता रहता है। जो बन्धन पुरुषों की स्वेच्छाचारिता के लिए इतने शिथिल होते हैं कि उन्हें बन्धन का अनुभव ही नहीं होता, वे ही बन्धन स्त्रियों की परावलम्बिनी दासता में इस प्रकार कस देते हैं कि उनकी सारी जीवनी शक्ति शुष्क और जीवन नीरस हो जाता है।

वहीं महादेवी वर्मा ऐसी पहली कवयित्री हैं जिन्होंने पूरी स्त्री जाति की संवेदनाओं को, उनके दुखों को अपने काव्य का लक्ष्य बनाया। स्त्री काव्य परम्परा की सबसे प्रमुख लेखिका महादेवी वर्मा हैं। महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक गद्य 'श्रृंखला की कड़ियाँ' को हिन्दी का पहला स्त्रीवादी साहित्यशास्त्र कहा जा सकता है। महादेवी वर्मा प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री की सफलता को अंकित करते हुए कहती हैं कि पुरुष की समानता कर स्त्री ने यह प्रमाणित कर दिया है कि स्त्री किसी भी रूप में पुरुष से कमजोर नहीं है। महादेवी ने स्त्री की अस्मिता के लिए अपनी तरह से संघर्ष किया। लेखिका के लेखन रूप में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' हिन्दी स्त्रीवादी लेखन का अप्रतिम उदाहरण है। श्रृंखला की प्रत्येक कड़ियाँ स्त्री की गुलामी की कड़ियाँ हैं। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' का महत्त्व बताते हुए कहा है–

"ऐसा लगता है कि नारीवादी और अन्य लेखिकाएँ भी श्रृंखला की कड़ियाँ के महत्त्व से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। वे सिमोन द बोउवार की किताब पढ़ती हैं, लेकिन महादेवी वर्मा की श्रृंखला की कड़ियाँ नहीं क्योंकि यह हिन्दी में लिखी गई है, फ्रेंच या अंग्रेजी में नहीं।"[16]

महादेवी वर्मा ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' लिखकर सच्चे अर्थों में स्त्री समस्याओं का गहराई से विवेचन किया है। आज महिला लेखन के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं। अपने लेखन को महज स्त्री देह तक सीमित न करके उसे समाज के वृहत्तर सरोकारों से जोड़ना होगा। महादेवी वर्मा ने श्रृंखला की कड़ियाँ में बन्धनों से जकड़ी नारी को चेताते हुए लिखा था कि इतना ध्यान रखना चाहिए कि बेड़ियों के साथ ही उस अस्त्र से बन्दी यदि पैर भी काट डालेगा तो उसकी मुक्ति की आशा, दुराशा मात्र रह जाएगी। वे स्त्रियों को कुटुम्ब, समाज, नगर तथा राष्ट्रीय की विशिष्ट सदस्य मानती हैं। वे कहती हैं कि स्त्री की प्रत्येक क्रिया के प्रतिफल से समाज आगे भी बढ़ सकता है और समाज के विकास में बाधा भी आ सकती है। इसीलिए स्त्री अपने कर्त्तव्य की गुरुता को भलीभाँति हृदयंगम कर, अपने लक्ष्य स्थिर कर सके तो श्रृंखला की कड़ियाँ हमारी गरिमा से गलकर मोम बन सकती हैं। महादेवी वर्मा सामाजिक जीवन को सुखद और मंगलमय बनाना चाहती

हैं। जिस प्रकार घटा स्वयं को गलाकर सृष्टि को सुख और शीतलता प्रदान करती है या दीपक स्वयं जलकर राख हो जाता है किन्तु परिवेश को आलोकित करता है, उसी प्रकार महादेवी स्वयं साधना की आग में जलकर सामाजिक जीवन को अधिक सुखद और मंगलमय बनाना चाहती हैं।

धर्मप्राण युग ने स्त्री को धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उन्नत स्थान देकर ही अपने कर्तव्य की इति समझ ली, उसकी व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सका। मातृत्व की गरिमा से गुरु और पत्नीत्व के सौभाग्य से ऐश्वर्यशालिनी होकर भी भारतीय नारी अपने व्यावहारिक जीवन में सबसे अधिक क्षुद्र और रंक कैसे रह सकी, यही आश्चर्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल महादेवी वर्मा के काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं– *"गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भावभंगिमा। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।"*[18]

आधुनिक काल का छायावाद युग स्त्री-विमर्श की आधारभूमि कहा जा सकता है। इसमें जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की रचना कर स्त्री-विमर्श की आधारभूमि रखी। प्रसाद की कामायनी वैसे तो अप्रत्यक्ष रूप में मानव प्रवृत्तियों और उसकी वृत्तियों का काव्य है, जिसमें 'श्रद्धा' और 'इड़ा' सम्पूर्ण मानव जाति की स्त्री रूपी प्रवृत्ति को उद्घोषित करती हैं। इसमें प्रसाद ने स्त्री शक्ति के बारे में व्याख्यायित किया है। वह जगत को बनाने वाली सृजनकर्ता है, पुरुषों की आदि शक्ति है, सारे जगत की संचालककर्ता वही है। उसकी चंचलता में ही जगत क्रियाशील है। लेकिन वह हमेशा दुखी रहती है व दुख को हँसते-हँसते सहती रहती है। स्त्री पराधीनता को अपनी नियति मान लेती है, जिसका पुरुष समाज फायदा उठा लेता है जैसा कि काव्य का नायक मनु करता है। प्रसाद ने अपने काव्य में स्त्री चरित्र की अनुभूतियों, कामनाओं और आकांक्षाओं का अनेक रूप में वर्णन किया है। यह मनोवैज्ञानिक काव्य है जिसकी रचना **1935** ई. में की गई।

वहीं इस युग के उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से एक स्त्री की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक सभी समस्याओं को साहित्यकारों के सामने रखा। प्रेमचन्द ही ऐसे पहले लेखक हैं जिन्हें स्त्री-विमर्श को हिन्दी साहित्य में गति प्रदान करने का श्रेय जाता है। प्रेमचन्द सबसे पहले स्त्री-विमर्श की आम समस्याओं और उनके कारणों को समाज के सामने रखते हैं तथा भारतीय नारी जगत को अपने साहित्य का लक्ष्य बनाकर उसे उसकी ताकत का एहसास कराते हैं। 'निर्मला' उपन्यास के माध्यम से अनमेल विवाह से होने वाले विनाश को दिखाया गया है। वहीं 'सेवासदन' वेश्यावृत्ति से जूझती महिलाओं की मानसिक वेदना को दर्शाता है। यहीं से हिन्दी कथा साहित्य में स्त्री को मुख्य विषय बनाया गया। उससे पहले लिखे साहित्य में स्त्री की विवशता पर सिर्फ सहानुभूति दर्शायी जाती थी, लेकिन प्रेमचन्द ने सबसे पहले उन आदर्शों की पट्टी को हटाया और यथार्थ के प्रश्नों को मुखर किया। वे भी उनकी समस्याओं का उपाय बताने में असफल रहे, लेकिन उन्होंने आगे आने वाले साहित्यकारों के लिए एक आधारभूमि दी जिनसे प्रेरित होकर अनेक रचनाकार स्त्री-विमर्श सम्बन्धी कथा साहित्य की रचना करने लगे।

राष्ट्रभक्ति की कविता लिखने में सुभद्रा कुमारी चौहान का अन्यतम स्थान है। 'झाँसी की रानी', 'जलियाँवाले बाग में वसंत', 'सेनानी का स्वागत' आदि महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' कविता तो सामान्य जनता में बहुत प्रसिद्ध हुई है। सुभद्रा कुमारी चौहान ने स्त्री को केन्द्र में रखकर अनेक कहानियाँ भी लिखीं। उनकी कहानियाँ सामाजिक-पारिवारिक जीवन के व्यावहारिक चित्रण के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। 'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी' में संगृहीत कहानियों में उन्होंने अधिकतर भारतीय नारी की परिस्थितियों, समस्याओं तथा भावनाओं का सजग चित्रण किया है।

इस्मत चुग़ताई शायद पहली भारतीय कथाकार हैं जिसकी कथा-नारियाँ न आत्महत्याएँ करती हैं, न अध्यात्म में जाती हैं, न स्थितियों को स्वीकार करके आँसू बहाती हैं। वे अपनी देह और मन की बात को साहस से कहती हैं और समाज के पुरुष-निर्धारित फैसलों में लगभग शहीद की तरह उभरती हैं। उनसे पहले महादेवी वर्मा ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में नारी की जिन स्थितियों का बौद्धिक विश्लेषण किया है, इस्मत ने उन्हीं अनुभवों को कहानियों के रूप के अभिव्यक्ति दी है– शायद एक-दूसरे से अनजान होकर।

स्त्री के मन एवं जिन्दगी के प्रामाणिक यथार्थ के मूल्यगत तनावों को वैयक्तिक दृष्टिकोण से मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती और शिवानी ने रूपायित किया। भगवती चरण वर्मा और वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से स्त्री-विमर्श को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'पुनर्नवा' एवं यशपाल का 'दिव्या' दोनों ऐसे उपन्यास हैं जो लिखे तो गए हैं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लेकिन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नारी विमर्श के महाख्यान हैं।

जैनेन्द्र कुमार निश्चित ही हमारी साहित्यिक विरासत के विशिष्ट स्तम्भ हैं। उनके साहित्य के केन्द्र में स्त्री ही है। उनका पहला उपन्यास 'परख' बाल-वैधव्य जैसी महत्त्वपूर्ण स्त्री समस्या पर केन्द्रित है तो अन्तिम रचना 'दशार्क' देह व्यापार पर केन्द्रित है। 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में ऐसी स्त्रियों की कहानी है जो परम्परा और रूढ़ियों से विद्रोह करके अपने मार्ग स्वयं निर्धारित करती हैं। 'त्यागपत्र' आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का सशक्त स्त्री-विमर्श केन्द्रित उपन्यास है। 'मृणाल' हिन्दी साहित्य की पहली स्त्री है जो नैतिकता की परम्परागत मान्यता को नकार देती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों और दाम्पत्य के खोखलेपन को जैनेन्द्र ने बड़ी सच्चाई से प्रस्तुत किया है।

कुछ महिला रचनाकारों ने स्त्रियों द्वारा लिखे गए साहित्य को अधिक प्रामाणिक माना है क्योंकि कुछ अनुभव केवल स्त्री को ही होते हैं। इन अनुभवों को साहित्य के माध्यम से केवल स्त्री ही व्यक्त कर सकती है। अनुभव की प्रामाणिकता इनकी सबसे बड़ी विशेषता है। कृष्णा सोबती का उपन्यास 'सूरजमुखी अँधेरे के', उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका', मृदुला गर्ग का 'चित्तकोबरा', नासिरा शर्मा का 'शाल्मली', प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता', मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' आदि हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में प्रमुख उपन्यास हैं।

नासिरा शर्मा के उपन्यास 'शाल्मली' में स्त्री-मुक्ति की अवधारणा उपन्यास की मुख्य पात्र शाल्मली के माध्यम से उजागर होती है। शाल्मली अपनी मित्र सरोज से कहती

है– "मेरी नजर में सही नारी–मुक्ति और स्वतन्त्रता, समाज की सोच और स्त्री की स्थिति को बदलने में है। बाहर निकलो या घर में रहो, हर स्थान पर पुरुष तुमसे टकराएगा। तलाक लेना समस्या का समाधान नहीं है। स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों की सामाजिक परिकल्पना को ही बदलना है।"

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं। किसी एक के बिना परिवार और समाज की कल्पना करना असम्भव है।

सन्दर्भ सूची

1. **सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2003, पृ. 375
2. **जगदीश्वर चतुर्वेदी**, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2000, पृ. 33
3. **सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2003, पृ. 235
4. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 124
5. **जगदीश्वर चतुर्वेदी**, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2000, पृ. 35
6. **डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी**, मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृ. 18
7. **सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2003, पृ. 306
8. **जगदीश्वर चतुर्वेदी**, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2000, पृ. 208
9. **सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2003, पृ. 306
10. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 227
11. **वही**, पृ. 345
12. **वही**, पृ. 315
13. **महादेवी वर्मा**, श्रृंखला की कड़ियाँ, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012, पृ. 73
14. **वही**, पृ. 72
15. **वही**, पृ. 21
16. **डॉ. मैनेजर पाण्डेय**, अनभै सांचा, पूर्वोदय, दिल्ली, 2002, पृ. 179
17. **सम्पादक- डॉ. नगेन्द्र**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2003, पृ. 553
18. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 490